

अध्याय आठ

भगवत्प्राप्ति

अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥

शब्दार्थ

अर्जुनः उवाच—अर्जुन ने कहा; किम्—क्या; तत्—वह; ब्रह्म—ब्रह्म; किम्—क्या;
अध्यात्मम्—आत्मा; किम्—क्या; कर्म—सकाम कर्म; पुरुष-उत्तम—हे परमपुरुष;
अधिभूतम्—भौतिक जगत्; च—तथा; किम्—क्या; प्रोक्तम्—कहलाता है;
अधिदैवम्—देवतागण; किम्—क्या; उच्यते—कहलाता है ।

अर्जुन ने कहा—हे भगवान्! हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है?
आत्मा क्या है? सकाम कर्म क्या है? यह भौतिक जगत् क्या
है? तथा देवता क्या हैं? कृपा करके यह सब मुझे बताइये ।

तात्पर्य

इस अध्याय में भगवान् कृष्ण अर्जुन के द्वारा पूछे गये, “ब्रह्म क्या है?” आदि प्रश्नों का उत्तर देते हैं। भगवान् कर्म, भक्ति तथा योग और शुद्ध भक्ति की भी व्याख्या करते हैं। श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि परम सत्य ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के नाम से जाना जाता है। साथ ही जीवात्मा या जीव को ब्रह्म भी कहते हैं। अर्जुन आत्मा के विषय में भी पूछता है, जिससे शरीर, आत्मा तथा मन का बोध होता है। वैदिक कोश (निरुक्त) के अनुसार आत्मा का अर्थ मन, आत्मा, शरीर तथा इन्द्रियाँ भी होता है।

अर्जुन ने परमेश्वर को पुरुषोत्तम या परम पुरुष कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ यह होता है कि वह ये सारे प्रश्न अपने एक मित्र से नहीं, अपितु परमपुरुष से, उन्हें परम प्रमाण मानकर, पूछ रहा था, जो निश्चित उत्तर दे सकते थे।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।

प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

अधियज्ञः—यज्ञ का स्वामी; कथम्—किस तरह; कः—कौन; अत्र—यहाँ; देहे—शरीर में; अस्मिन्—इस; मधुसूदन—हे मधुसूदन; प्रयाण-काले—मृत्यु के समय; च—तथा; कथम्—कैसे; ज्ञेयः—असि—जाने जा सकते हो; नियत-आत्मभिः—आत्मसंयमी के द्वारा ।

हे मधुसूदन! यज्ञ का स्वामी कौन है और वह शरीर में कैसे रहता है? और मृत्यु के समय भक्ति में लगे रहने वाले आपको कैसे जान पाते हैं?

तात्पर्य

अधियज्ञ का तात्पर्य इन्द्र या विष्णु हो सकता है। विष्णु समस्त देवताओं में, जिनमें ब्रह्मा तथा शिव सम्मिलित हैं, प्रधान देवता हैं और इन्द्र प्रशासक देवताओं में प्रधान हैं। इन्द्र तथा विष्णु दोनों की पूजा यज्ञ द्वारा की जाती है। किन्तु अर्जुन प्रश्न करता है कि वस्तुतः यज्ञ का स्वामी कौन है और भगवान् किस तरह जीव के शरीर के भीतर निवास करते हैं?

अर्जुन ने भगवान् को मधुसूदन कहकर सम्बोधित किया क्योंकि कृष्ण ने एक बार मधु नामक असुर का वध किया था। वस्तुतः ये सारे प्रश्न, जो शंका के रूप में हैं, अर्जुन के मन में नहीं उठने चाहिए थे, क्योंकि अर्जुन एक कृष्णभावनाभावित भक्त था। अतः ये सारी शंकाएँ असुरों के सदृश हैं। चूँकि कृष्ण असुरों के मारने में सिद्धहस्त थे, अतः अर्जुन उन्हें मधुसूदन कहकर सम्बोधित करता है, जिससे कृष्ण उस के मन में उठने वाली समस्त आसुरी शंकाओं को नष्ट कर दें।

इस श्लोक का प्रयाणकाले शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि अपने जीवन में हम जो भी करते हैं, उसकी परीक्षा मृत्यु के समय होनी है। अर्जुन उन लोगों के विषय में जो निरन्तर कृष्णभावनामृत में लगे रहते हैं यह जानने के लिए अत्यन्त इच्छुक है कि अन्त समय उनकी क्या दशा होगी? मृत्यु के समय शरीर के सारे कार्य रुक जाते हैं और मन सही दशा में नहीं रहता। इस प्रकार शारीरिक स्थिति बिगड़ जाने से हो सकता है कि

मनुष्य परमेश्वर का स्मरण न कर सके। परम भक्त महाराज कुलशेखर प्रार्थना करते हैं, “हे भगवान्! इस समय मैं पूर्ण स्वस्थ हूँ। अच्छा हो कि मेरी मृत्यु इसी समय हो जाय जिससे मेरा मन रूपी हंस आपके चरणकमलोंरूपी नाल के भीतर प्रविष्ट हो सके।” यह रूपक इसलिए प्रयुक्त किया गया है क्योंकि हंस, जो एक जल पक्षी है, वह कमल के पुष्पों को कुतरने में आनन्द का अनुभव करता है, इस तरह वह कमलपुष्प के भीतर प्रवेश करना चाहता है। महाराज कुलशेखर भगवान् से कहते हैं, “इस समय मेरा मन स्वस्थ है और मैं भी पूरी तरह स्वस्थ हूँ। यदि मैं आपके चरणकमलों का चिन्तन करते हुए तुरन्त मर जाऊँ तो मुझे विश्वास है कि आपके प्रति मेरी भक्ति पूर्ण हो जायेगी, किन्तु यदि मुझे अपनी सहज मृत्यु की प्रतीक्षा करनी पड़े तो मैं नहीं जानता कि क्या होगा क्योंकि उस समय मेरा शरीर कार्य करना बन्द कर देगा, मेरा गला रुँध जायेगा और मुझे पता नहीं कि मैं आपके नाम का जप कर पाऊँगा या नहीं। अच्छा यही होगा कि मुझे तुरन्त मर जाने दें।” अर्जुन प्रश्न करता है कि ऐसे समय मनुष्य किस तरह कृष्ण के चरणकमलों में अपने मन को स्थिर कर सकता है ?

श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अक्षरम्—अविनाशी; ब्रह्म—ब्रह्म; परमम्—दिव्य; स्वभावः—सनातन प्रकृति; अध्यात्मम्—आत्मा; उच्यते—कहलाता है; भूत-भाव-उद्भव-करः—जीवों के भौतिक शरीर को उत्पन्न करने वाला; विसर्गः—सृष्टि; कर्म—सकाम कर्म; संज्ञितः—कहलाता है।

भगवान् ने कहा—अविनाशी और दिव्य जीव ब्रह्म कहलाता है और उसका नित्य स्वभाव अध्यात्म या आत्म कहलाता है। जीवों के भौतिक शरीर से सम्बन्धित गतिविधि कर्म या सकाम कर्म कहलाती है।

तात्पर्य

ब्रह्म अविनाशी तथा नित्य है और इसका विधान कभी भी नहीं बदलता। किन्तु ब्रह्म से भी परे परब्रह्म होता है। ब्रह्म का अर्थ है जीव तथा परब्रह्म का अर्थ भगवान् है। जीव का स्वरूप भौतिक जगत् में उसकी स्थिति से भिन्न होता है। भौतिक चेतना में उसका स्वभाव पदार्थ पर प्रभुत्व जताना है, किन्तु आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभावनामृत में उसकी स्थिति परमेश्वर की सेवा करना है। जब जीव भौतिक चेतना में होता है तो उसे इस संसार में विभिन्न प्रकार के शरीर धारण करने पड़ते हैं। यह भौतिक चेतना के कारण कर्म अथवा विविध सृष्टि कहलाता है।

वैदिक साहित्य में जीव को जीवात्मा तथा ब्रह्म कहा जाता है, किन्तु उसे कभी परब्रह्म नहीं कहा जाता। जीवात्मा विभिन्न स्थितियाँ ग्रहण करता है—कभी वह अन्धकार पूर्ण भौतिक प्रकृति से मिल जाता है और पदार्थ को अपना स्वरूप मान लेता है तो कभी वह परा आध्यात्मिक प्रकृति के साथ मिल जाता है। इसीलिए वह परमेश्वर की तटस्था शक्ति कहलाता है। भौतिक या आध्यात्मिक प्रकृति के साथ अपनी पहचान के अनुसार ही उसे भौतिक या आध्यात्मिक शरीर प्राप्त होता है। भौतिक प्रकृति में वह चौरासी लाख योनियों में से कोई भी शरीर धारण कर सकता है, किन्तु आध्यात्मिक प्रकृति में उसका एक ही शरीर होता है। भौतिक प्रकृति में वह अपने कर्म के अनुसार कभी मनुष्य रूप में प्रकट होता है तो कभी देवता, पशु, पक्षी आदि के रूप में प्रकट होता है। स्वर्गलोक की प्राप्ति तथा वहाँ का सुख भोगने की इच्छा से वह कभी-कभी यज्ञ सम्पन्न करता है, किन्तु जब उसका पुण्य क्षीण हो जाता है तो वह पुनः मनुष्य रूप में पृथ्वी पर वापस आ जाता है। यह प्रक्रिया कर्म कहलाती है।

छांदोग्य उपनिषद् में वैदिक यज्ञ-अनुष्ठानों का वर्णन मिलता है। यज्ञ की वेदी में पाँच अग्नियों को पाँच प्रकार की आहुतियाँ दी जाती हैं। ये पाँच अग्नियाँ स्वर्गलोक, बादल, पृथ्वी, मनुष्य तथा स्त्री रूप मानी जाती हैं और श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न तथा वीर्य ये पाँच प्रकार की आहुतियाँ हैं।

यज्ञ प्रक्रिया में जीव अभीष्ट स्वर्गलोकों की प्राप्ति के लिए विशेष यज्ञ करता है और उन्हें प्राप्त करता है। जब यज्ञ का पुण्य क्षीण हो जाता है तो जीव पृथ्वी पर वर्षा के रूप में उतरता है और अन्न का रूप ग्रहण करता है।

इस अन्न को मनुष्य खाता है जिससे यह वीर्य में परिणत होता है जो स्त्री के गर्भ में जाकर फिर से मनुष्य का रूप धारण करता है। यह मनुष्य पुनः यज्ञ करता है और पुनः वही चक्र चलता है। इस प्रकार जीव शाश्वत रीति से आता और जाता रहता है। किन्तु कृष्णभावनाभावित पुरुष ऐसे यज्ञों से दूर रहता है। वह सीधे कृष्णभावनामृत ग्रहण करता है और इस प्रकार ईश्वर के पास वापस जाने की तैयारी करता है।

भगवद्गीता के निर्विशेषवादी भाष्यकार बिना कारण के कल्पना करते हैं कि इस जगत् में ब्रह्म जीव का रूप धारण करता है और इसके समर्थन में वे *गीता* के पंद्रहवें अध्याय के सातवें श्लोक को उद्धृत करते हैं। किन्तु इस श्लोक में भगवान् जीव को “मेरा शाश्वत अंश” भी कहते हैं। भगवान् का यह अंश, जीव, भले ही भौतिक जगत् में आ गिरता है, किन्तु परमेश्वर (अच्युत) कभी नीचे नहीं गिरता। अतः यह विचार कि ब्रह्म जीव का रूप धारण करता है ग्राह्य नहीं है। यह स्मरण रखना होगा कि वैदिक साहित्य में ब्रह्म (जीवात्मा) को परब्रह्म (परमेश्वर) से पृथक् माना जाता है।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।

अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

अधिभूतम्—भौतिक जगत्; क्षरः—निरन्तर परिवर्तनशील; भावः—प्रकृति; पुरुषः—सूर्य, चन्द्र जैसे समस्त देवताओं सहित विराट रूप; च—तथा; अधिदैवतम्—अधिदैव नामक; अधियज्ञः—परमात्मा; अहम्—मैं (कृष्ण) ; एव—निश्चय ही; अत्र—इस; देहे—शरीर में; देह-भृताम्—देहधारियों में; वर—हे श्रेष्ठ।

हे देहधारियों में श्रेष्ठ! निरन्तर परिवर्तनशील यह भौतिक प्रकृति अधिभूत (भौतिक अभिव्यक्ति) कहलाती है। भगवान् का विराट रूप, जिसमें सूर्य तथा चन्द्र जैसे समस्त देवता सम्मिलित हैं, अधिदैव कहलाता है। तथा प्रत्येक देहधारी के हृदय में परमात्मा स्वरूप स्थित मैं परमेश्वर अधियज्ञ (यज्ञ का स्वामी) कहलाता हूँ।

तात्पर्य

यह भौतिक प्रकृति निरन्तर परिवर्तित होती रहती है। सामान्यतः भौतिक शरीरों को छह अवस्थाओं से निकलना होता है—वे उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, कुछ काल तक रहते हैं, कुछ गौण पदार्थ उत्पन्न करते हैं, क्षीण होते हैं और अन्त में विलुप्त हो जाते हैं। यह भौतिक प्रकृति *अधिभूत* कहलाती है। यह किसी निश्चित समय में उत्पन्न की जाती है और किसी निश्चित समय में विनष्ट कर दी जाती है। परमेश्वर के विराट स्वरूप की धारणा, जिसमें सारे देवता तथा उनके लोक सम्मिलित हैं, *अधिदैवत* कहलाती है। प्रत्येक शरीर में आत्मा सहित परमात्मा का वास होता है, जो भगवान् कृष्ण का अंश स्वरूप है। यह परमात्मा *अधियज्ञ* कहलाता है और हृदय में स्थित होता है। इस श्लोक के प्रसंग में *एव* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा भगवान् बल देकर कहते हैं कि परमात्मा उनसे भिन्न नहीं है। यह परमात्मा प्रत्येक आत्मा के पास आसीन है और आत्मा के कार्यकलापों का साक्षी है तथा आत्मा की विभिन्न चेतनाओं का उद्गम है। यह परमात्मा प्रत्येक आत्मा को मुक्त भाव से कार्य करने की छूट देता है और उसके कार्यों पर निगरानी रखता है। परमेश्वर के इन विविध स्वरूपों के सारे कार्य उस कृष्णभावनाभावित भक्त को स्वतः स्पष्ट हो जाते हैं, जो भगवान् की दिव्यसेवा में लगा रहता है। *अधिदैवत* नामक भगवान् के विराट स्वरूप का चिन्तन उन नवदीक्षितों के लिए है जो भगवान् के परमात्मा स्वरूप तक नहीं पहुँच पाते। अतः उन्हें परामर्श दिया जाता है कि वे उस विराट पुरुष का चिन्तन करें जिसके पाँव अधोलोक हैं, जिसके नेत्र सूर्य तथा चन्द्र हैं और जिसका सिर उच्चलोक है।

अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अन्त-काले—मृत्यु के समय; च—भी; माम्—मुझको; एव—निश्चय ही; स्मरन्—स्मरण करते हुए; मुक्त्वा—त्याग कर; कलेवरम्—शरीर को; यः—जो; प्रयाति—जाता है; सः—वह; मत्-भावम्—मेरे स्वभाव को; याति—प्राप्त करता है; न—नहीं; अस्ति—है; अत्र—यहाँ; संशयः—सन्देह।

और जीवन के अन्त में जो केवल मेरा स्मरण करते हुए शरीर का त्याग करता है, वह तुरन्त मेरे स्वभाव को प्राप्त करता है। इसमें रंचमात्र भी सन्देह नहीं है।

तात्पर्य

इस श्लोक में कृष्णभावनामृत की महत्ता दर्शित की गई है। जो कोई भी कृष्णभावनामृत में अपना शरीर छोड़ता है, वह तुरन्त परमेश्वर के दिव्य स्वभाव (मद्भाव) को प्राप्त होता है। परमेश्वर शुद्धातिशुद्ध है, अतः जो व्यक्ति कृष्णभावनाभावित होता है, वह भी शुद्धातिशुद्ध होता है। स्मरन् शब्द महत्त्वपूर्ण है। श्रीकृष्ण का स्मरण उस अशुद्ध जीव से नहीं हो सकता जिसने भक्ति में रहकर कृष्णभावनामृत का अभ्यास नहीं किया। अतः मनुष्य को चाहिए कि जीवन के प्रारम्भ से ही कृष्णभावनामृत का अभ्यास करे। यदि जीवन के अन्त में सफलता वांछनीय है तो कृष्ण का स्मरण करना अनिवार्य है। अतः मनुष्य को निरन्तर हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—इस महामन्त्र का जप करना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को वृक्ष के समान सहिष्णु होना चाहिए (तरोरिवसहिष्णुना)। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—का जप करने वाले व्यक्ति को अनेक व्यवधानों का सामना करना पड़ सकता है। तो भी इस महामन्त्र का जप करते रहना चाहिए, जिससे जीवन के अन्त समय कृष्णभावनामृत का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त हो सके।

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यम् यम्—जिस; वा अपि—किसी भी; स्मरन्—स्मरण करते हुए; भावम्—स्वभाव को; त्यजति—परित्याग करता है; अन्ते—अन्त में; कलेवरम्—शरीर को; तम् तम्—वैसा ही; एव—निश्चय ही; एति—प्राप्त करता है; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; सदा—सदैव; तत्—उस; भाव—भाव; भावितः—स्मरण करता हुआ।

हे कुन्तीपुत्र! शरीर त्यागते समय मनुष्य जिस-जिस भाव का स्मरण करता है, वह उस उस भाव को निश्चित रूप से प्राप्त होता है।

तात्पर्य

यहाँ पर मृत्यु के समय अपना स्वभाव बदलने की विधि का वर्णन है। जो व्यक्ति अन्त समय कृष्ण का चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करता है, उसे परमेश्वर का दिव्य स्वभाव प्राप्त होता है। किन्तु यह सत्य नहीं है कि यदि कोई मृत्यु के समय कृष्ण के अतिरिक्त और कुछ सोचता है तो उसे भी दिव्य अवस्था प्राप्त होती है। हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना चाहिए। तो फिर कोई मन की सही अवस्था में किस प्रकार मरे? महापुरुष होते हुए भी महाराज भरत ने मृत्यु के समय एक हिरन का चिन्तन किया, अतः अगले जीवन में हिरन के शरीर में उनका देहान्तरण हुआ। यद्यपि हिरन के रूप में उन्हें अपने विगत कर्मों की स्मृति थी, किन्तु उन्हें पशु शरीर धारण करना ही पड़ा। निस्सन्देह मनुष्य के जीवन भर के विचार संचित होकर मृत्यु के समय उसके विचारों को प्रभावित करते हैं, अतः इस जीवन से उसका अगला जीवन बनता है। अगर कोई इस जीवन में सतोगुणी होता है और निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करता है तो सम्भावना यही है कि मृत्यु के समय उसे कृष्ण का स्मरण बना रहे। इससे उसे कृष्ण के दिव्य स्वभाव को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी। यदि कोई दिव्यरूप से कृष्ण की सेवा में लीन रहता है तो उसका अगला शरीर दिव्य (आध्यात्मिक) ही होगा, भौतिक नहीं। अतः जीवन के अन्त समय अपने स्वभाव को सफलतापूर्वक बदलने के लिए हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे का जप करना सर्वश्रेष्ठ विधि है।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।

मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मा मे वैष्यस्यसंशयः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतएव; सर्वेषु—समस्त; कालेषु—कालों में; माम्—मुझको; अनुस्मर—स्मरण करते रहो; युध्य—युद्ध करो; च—भी; मयि—मुझमें; अर्पित—शरणागत

होकर; मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; माम्—मुझको; एव—निश्चय ही; एष्यसि—प्राप्त करोगे; असंशयः—निस्सन्देह ही।

अतएव, हे अर्जुन! तुम्हें सदैव कृष्ण रूप में मेरा चिन्तन करना चाहिए और साथ ही युद्ध करने के कर्तव्य को भी पूरा करना चाहिए। अपने कर्मों को मुझे समर्पित करके तथा अपने मन एवं बुद्धि को मुझमें स्थिर करके तुम निश्चित रूप से मुझे प्राप्त कर सकोगे।

तात्पर्य

अर्जुन को दिया गया यह उपदेश भौतिक कार्यों में व्यस्त रहने वाले समस्त व्यक्तियों के लिए बड़ा महत्वपूर्ण है। भगवान् यह नहीं कहते कि कोई अपने कर्तव्यों को त्याग दे। मनुष्य उन्हें करते हुए साथ-साथ हरे कृष्ण का जप करके कृष्ण का चिन्तन कर सकता है। इससे मनुष्य भौतिक कल्मष से मुक्त हो जायेगा और अपने मन तथा बुद्धि को कृष्ण में प्रवृत्त करेगा। कृष्ण का नाम-जप करने से मनुष्य परमधाम कृष्णलोक को प्राप्त होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।

परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अभ्यास-योग—अभ्यास से; युक्तेन—ध्यान में लगे रहकर; चेतसा—मन तथा बुद्धि से; न अन्य-गामिना—बिना विचलित हुए; परमम्—परम; पुरुषम्—भगवान् को; दिव्यम्—दिव्य; याति—प्राप्त करता है; पार्थ—हे पृथापुत्र; अनुचिन्तयन्—निरन्तर चिन्तन करता हुआ।

हे पार्थ! जो व्यक्ति मेरा स्मरण करने में अपना मन निरन्तर लगाये रखकर अविचलित भाव से भगवान् के रूप में मेरा ध्यान करता है, वह मुझको अवश्य ही प्राप्त होता है।

तात्पर्य

इस श्लोक में भगवान् कृष्ण अपने स्मरण किये जाने की महत्ता पर बल देते हैं। महामन्त्र हरे कृष्ण का जप करने से कृष्ण की स्मृति हो आती है। भगवान् के शब्दोच्चार (ध्वनि) के जप तथा श्रवण के अभ्यास से

मनुष्य के कान, जीभ तथा मन व्यस्त रहते हैं। इस ध्यान का अभ्यास अत्यन्त सुगम है और इससे परमेश्वर को प्राप्त करने में सहायता मिलती है। पुरुषम् का अर्थ भोक्ता है। यद्यपि सारे जीव भगवान् की तटस्था शक्ति हैं, किन्तु वे भौतिक कल्मष से युक्त हैं। वे स्वयं को भोक्ता मानते हैं, जबकि वे होते नहीं। यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् ही अपने विभिन्न स्वरूपों तथा नारायण, वासुदेव आदि स्वांशों के रूप में परम भोक्ता हैं।

भक्त हरे कृष्ण का जप करके अपनी पूजा के लक्ष्य परमेश्वर का, उनके किसी भी रूप नारायण, कृष्ण, राम आदि का निरन्तर चिन्तन कर सकता है। ऐसा करने से वह शुद्ध हो जाता है और निरन्तर जप करते रहने से जीवन के अन्त में वह भगवद्धाम को जाता है। योग अन्तःकरण के परमात्मा का ध्यान है। इसी प्रकार हरे कृष्ण के जप द्वारा मनुष्य अपने मन को परमेश्वर में स्थिर करता है। मन चंचल है, अतः आवश्यक है कि मन को बलपूर्वक कृष्ण-चिन्तन में लगाया जाय। प्रायः उस एक प्रकार के कीट का दृष्टान्त दिया जाता है जो तितली बनना चाहता है और वह इसी जीवन में तितली बन जाता है। इसी प्रकार यदि हम निरन्तर कृष्ण का चिन्तन करते रहें, तो यह निश्चित है कि हम जीवन के अन्त में कृष्ण जैसा शरीर प्राप्त कर सकेंगे।

कविं पुराणमनुशासितार-

मणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूप-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

कविम्—सर्वज्ञ; पुराणम्—प्राचीनतम, पुरातन; अनुशासितारम्—नियन्ता; अणोः—अणु की तुलना में; अणीयांसम्—लघुतर; अनुस्मरेत्—सदैव सोचता है; यः—जो; सर्वस्य—हर वस्तु का; धातारम्—पालक; अचिन्त्य—अकल्पनीय; रूपम्—जिसका स्वरूप; आदित्य-वर्णम्—सूर्य के समान प्रकाशमान; तमसः—अंधकार से; परस्तात्—दिव्य, परे।

मनुष्य को चाहिए कि परमपुरुष का ध्यान सर्वज्ञ, पुरातन, नियन्ता, लघुतम से भी लघुतर, प्रत्येक का पालनकर्ता,

समस्त भौतिकबुद्धि से परे, अचिन्त्य तथा नित्य पुरुष के रूप में करे। वे सूर्य की भाँति तेजवान हैं और इस भौतिक प्रकृति से परे, दिव्य रूप हैं।

तात्पर्य

इस श्लोक में परमेश्वर के चिन्तन की विधि का वर्णन हुआ है। सबसे प्रमुख बात यह है कि वे निराकार या शून्य नहीं हैं। कोई निराकार या शून्य का चिन्तन कैसे कर सकता है? यह अत्यन्त कठिन है। किन्तु कृष्ण के चिन्तन की विधि अत्यन्त सुगम है और तथ्य रूप में यहाँ वर्णित है। पहली बात तो यह है कि भगवान् पुरुष हैं—हम राम तथा कृष्ण को पुरुष रूप में सोचते हैं। चाहे कोई राम का चिन्तन करे या कृष्ण का, वे जिस तरह के हैं उसका वर्णन *भगवद्गीता* के इस श्लोक में किया गया है। भगवान् कवि हैं अर्थात् वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य के ज्ञाता हैं, अतः वे सब कुछ जानने वाले हैं। वे प्राचीनतम पुरुष हैं क्योंकि वे समस्त वस्तुओं के उद्गम हैं, प्रत्येक वस्तु उन्हीं से उत्पन्न है। वे ब्रह्माण्ड के परम नियन्ता भी हैं। वे मनुष्यों के पालक तथा शिक्षक हैं। वे अणु से भी सूक्ष्म हैं। जीवात्मा बाल के अग्र भाग के दस हजारवें अंश के बराबर है, किन्तु भगवान् अचिन्त्य रूप से इतने लघु हैं कि वे इस अणु के भी हृदय में प्रविष्ट रहते हैं। इसीलिए वे लघुतम से भी लघुतर कहलाते हैं। परमेश्वर के रूप में वे परमाणु में तथा लघुतम के भी हृदय में प्रवेश कर सकते हैं और परमात्मा रूप में उसका नियन्त्रण करते हैं। इतना लघु होते हुए भी वे सर्वव्यापी हैं और सबों का पालन करने वाले हैं। उनके द्वारा इन लोकों का धारण होता है। प्रायः हम आश्चर्य करते हैं कि ये विशाल लोक किस प्रकार वायु में तैर रहे हैं। यहाँ यह बताया गया है कि परमेश्वर अपनी अचिन्त्य शक्ति द्वारा इन समस्त विशाल लोकों तथा आकाशगंगाओं को धारण किए हुए हैं। इस प्रसंग में *अचिन्त्य* शब्द अत्यन्त सार्थक है। ईश्वर की शक्ति हमारी कल्पना या विचार शक्ति के परे है, इसीलिए *अचिन्त्य* कहलाती है। इस बात का खंडन कौन कर सकता है? वे इस भौतिक जगत् में व्याप्त हैं फिर भी इससे परे हैं। हम इसी भौतिक जगत् को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते जो आध्यात्मिक जगत् की तुलना में नगण्य है तो फिर हम कैसे जान सकते हैं

कि इसके परे क्या है? अचिन्त्य का अर्थ है इस भौतिक जगत् से परे जिसे हमारा तर्क, नीतिशास्त्र तथा दार्शनिक चिन्तन छू नहीं पाता और जो अकल्पनीय है। अतः बुद्धिमान मनुष्यों को चाहिए कि व्यर्थ के तर्कों तथा चिन्तन से दूर रहकर वेदों, भगवद्गीता तथा भागवत जैसे शास्त्रों में जो कुछ कहा गया है, उसे स्वीकार कर लें और उनके द्वारा सुनिश्चित किए गए नियमों का पालन करें। इससे ज्ञान प्राप्त हो सकेगा।

प्रयाणकाले मनसाचलेन

भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।

भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्

स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

प्रयाण-काले—मृत्यु के समय; मनसा—मन से; अचलेन—अचल, दृढ़; भक्त्या—भक्ति से; युक्तः—लगा हुआ; योग-बलेन—योग शक्ति के द्वारा; च—भी; एव—निश्चय ही; भ्रुवोः—दोनों भौहों के; मध्ये—मध्य में; प्राणम्—प्राण को; आवेश्य—स्थापित करे; सम्यक्—पूर्णतया; सः—वह; तम्—उस; परम्—दिव्य; पुरुषम्—भगवान् को; उपैति—प्राप्त करता है; दिव्यम्—दिव्य भगवद्भाम को।

मृत्यु के समय जो व्यक्ति अपने प्राण को भौहों के मध्य स्थिर कर लेता है और योगशक्ति के द्वारा अविचलित मन से पूर्णभक्ति के साथ परमेश्वर के स्मरण में अपने को लगाता है, वह निश्चित रूप से भगवान् को प्राप्त होता है।

तात्पर्य

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि मृत्यु के समय मन को भगवान् की भक्ति में स्थिर करना चाहिए। जो लोग योगाभ्यास करते हैं उनके लिए संस्तुति की गई है कि वे प्राण को भौहों के बीच (आज्ञा चक्र) में ले आयें। यहाँ पर षट्चक्रयोग के अभ्यास का प्रस्ताव है, जिसमें छः चक्रों पर ध्यान लगाया जाता है। परन्तु निरन्तर कृष्णभावनामृत में लीन रहने के कारण शुद्ध भक्त भगवत्कृपा से मृत्यु के समय योगाभ्यास के बिना भगवान् का स्मरण कर सकता है। इसकी व्याख्या चौदहवें श्लोक में की गई है।

इस श्लोक में *योगबलेन* शब्द का विशिष्ट प्रयोग महत्त्वपूर्ण है क्योंकि योग के अभाव में चाहे वह षट्चक्रयोग हो या भक्तियोग—मनुष्य कभी भी मृत्यु के समय इस दिव्य अवस्था (भाव) को प्राप्त नहीं होता। कोई भी मृत्यु के समय परमेश्वर का सहसा स्मरण नहीं कर पाता, उसे किसी न किसी योग का, विशेषतया भक्तियोग का अभ्यास होना चाहिए। चूँकि मृत्यु के समय मनुष्य का मन अत्यधिक विचलित रहता है, अतः अपने जीवन में मनुष्य को योग के माध्यम से अध्यात्म का अभ्यास करना चाहिए।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति

विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति

तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस; अक्षरम्—अक्षर ॐ को; वेद-विदः—वेदों के ज्ञाता; वदन्ति—कहते हैं;
विशन्ति—प्रवेश करते हैं; यत्—जिसमें; यतयः—बड़े-बड़े मुनि; वीत-रागाः—
संन्यास-आश्रम में रहने वाले संन्यासी; यत्—जो; इच्छन्तः—इच्छा करने वाले;
ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य का; चरन्ति—अभ्यास करते हैं; तत्—उस; ते—तुमको; पदम्—
पद को; सङ्ग्रहेण—संक्षेप में; प्रवक्ष्ये—मैं बतलाऊँगा।

जो वेदों के ज्ञाता हैं, जो ओंकार का उच्चारण करते हैं और जो संन्यास आश्रम के बड़े-बड़े मुनि हैं, वे ब्रह्म में प्रवेश करते हैं। ऐसी सिद्धि की इच्छा करने वाले ब्रह्मचर्यव्रत का अभ्यास करते हैं। अब मैं तुम्हें वह विधि बताऊँगा, जिससे कोई भी व्यक्ति मुक्ति-लाभ कर सकता है।

तात्पर्य

श्रीकृष्ण अर्जुन के लिए षट्चक्रयोग की विधि का अनुमोदन कर चुके हैं, जिसमें प्राण को भौहों के मध्य स्थिर करना होता है। यह मानकर कि हो सकता है अर्जुन को षट्चक्रयोग अभ्यास न आता हो, कृष्ण अगले श्लोकों में इसकी विधि बताते हैं। भगवान् कहते हैं कि ब्रह्म यद्यपि अद्वितीय है, किन्तु उसके अनेक स्वरूप होते हैं। विशेषतया

निर्विशेषवादियों के लिए अक्षर या ओंकार ब्रह्म है। कृष्ण यहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म के विषय में बता रहे हैं जिसमें संन्यासी प्रवेश करते हैं।

ज्ञान की वैदिक पद्धति में छात्रों को प्रारम्भ से गुरु के पास रहने से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए ओंकार का उच्चारण तथा परम निर्विशेष ब्रह्म की शिक्षा दी जाती है। इस प्रकार वे ब्रह्म के दो स्वरूपों से परिचित होते हैं। यह प्रथा छात्रों के आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए अत्यावश्यक है, किन्तु इस समय ऐसा ब्रह्मचर्य जीवन (अविवाहित जीवन) बिता पाना बिल्कुल सम्भव नहीं है। विश्व का सामाजिक ढाँचा इतना बदल चुका है कि छात्र जीवन के प्रारम्भ से ब्रह्मचर्य जीवन बिताना संभव नहीं है। यद्यपि विश्व में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं के लिए अनेक संस्थाएँ हैं, किन्तु ऐसी मान्यता प्राप्त एक भी संस्था नहीं है जहाँ ब्रह्मचर्य के सिद्धान्तों में शिक्षा प्रदान की जा सके। ब्रह्मचर्य के बिना आध्यात्मिक जीवन में उन्नति कर पाना अत्यन्त कठिन है। अतः इस कलियुग के लिए शास्त्रों के आदेशानुसार भगवान् चैतन्य ने घोषणा की है कि भगवान् कृष्ण के पवित्र नाम—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—के जप के अतिरिक्त परमेश्वर के साक्षात्कार का कोई अन्य उपाय नहीं है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।

मूर्ध्न्याधायामनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

सर्व-द्वाराणि—शरीर के समस्त द्वारों को; संयम्य—वश में करके; मनः—मन को; हृदि—हृदय में; निरुध्य—बन्द कर; च—भी; मूर्ध्नि—सिर पर; आधाय—स्थिर करके; आत्मनः—अपने; प्राणम्—प्राणवायु को; आस्थितः—स्थित; योग-धारणाम्—योग की स्थिति।

समस्त ऐन्द्रिय क्रियाओं से विरक्ति को योग की स्थिति (योगधारणा) कहा जाता है। इन्द्रियों के समस्त द्वारों को बन्द करके तथा मन को हृदय में और प्राणवायु को सिर पर केन्द्रित करके मनुष्य अपने को योग में स्थापित करता है।

तात्पर्य

इस श्लोक में बताई गई विधि से योगाभ्यास के लिए सबसे पहले इन्द्रियभोग के सारे द्वार बन्द करने होते हैं। यह प्रत्याहार अथवा इन्द्रियविषयों से इन्द्रियों को हटाना कहलाता है। इसमें ज्ञानेन्द्रियों—नेत्र, कान, नाक, जीभ तथा स्पर्श को पूर्णतया वश में करके उन्हें इन्द्रियतृप्ति में लिप्त होने नहीं दिया जाता। इस प्रकार मन हृदय में स्थित परमात्मा पर केन्द्रित होता है और प्राणवायु को सिर के ऊपर तक चढ़ाया जाता है। इसका विस्तृत वर्णन छोटे अध्याय में हो चुका है। किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है अब यह विधि व्यावहारिक नहीं है। सबसे उत्तम विधि तो कृष्णभावनामृत है। यदि कोई भक्ति में अपने मन को कृष्ण में स्थिर करने में समर्थ होता है, तो उसके लिए अविचलित दिव्य समाधि में बने रहना सुगम हो जाता है।

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ॐ—ओंकार; इति—इस तरह; एक-अक्षरम्—एक अक्षर; ब्रह्म—परब्रह्म का; व्याहरन्—उच्चारण करते हुए; माम्—मुझको (कृष्ण को) ; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए; यः—जो; प्रयाति—जाता है; त्यजन्—छोड़ते हुए; देहम्—इस शरीर को; सः—वह; याति—प्राप्त करता है; परमाम्—परम; गतिम्—गन्तव्य, लक्ष्य।

इस योगाभ्यास में स्थित होकर तथा अक्षरों के परम संयोग यानी ओंकार का उच्चारण करते हुए यदि कोई भगवान् का चिन्तन करता है और अपने शरीर का त्याग करता है, तो वह निश्चित रूप से आध्यात्मिक लोकों को जाता है।

तात्पर्य

यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है कि ओम्, ब्रह्म तथा भगवान् कृष्ण परस्पर भिन्न नहीं हैं। ओम्, कृष्ण की निर्विशेष ध्वनि है, लेकिन हरे कृष्ण में यह ओम् सन्निहित है। इस युग के लिए हरे कृष्ण मन्त्र जप की स्पष्ट संस्तुति

है। अतः यदि कोई—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे—इस मन्त्र का जप करते हुए शरीर त्यागता है तो वह अपने अभ्यास के गुणानुसार आध्यात्मिक लोकों में से किसी एक लोक को जाता है। कृष्ण के भक्त कृष्णलोक या गोलोक वृन्दावन को जाते हैं। सगुणवादियों के लिए आध्यात्मिक आकाश में अन्य अनेक लोक हैं, जिन्हें वैकुण्ठ लोक कहते हैं, किन्तु निर्विशेषवादी तो ब्रह्मज्योति में ही रह जाते हैं।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

अनन्य-चेताः—अविचलित मन से; सततम्—सदैव; यः—जो; माम्—मुझ (कृष्ण) को; स्मरति—स्मरण करता है; नित्यशः—नियमित रूप से; तस्य—उस; अहम्—मैं हूँ; सु-लभः—सुलभ, सरलता से प्राप्य; पार्थ—हे पृथापुत्र; नित्य—नियमित रूप से; युक्तस्य—लगे हुए; योगिनः—भक्त के लिए।

हे अर्जुन! जो अनन्य भाव से निरन्तर मेरा स्मरण करता है उसके लिए मैं सुलभ हूँ, क्योंकि वह मेरी भक्ति में प्रवृत्त रहता है।

तात्पर्य

इस श्लोक में उन निष्काम भक्तों द्वारा प्राप्तव्य अन्तिम गन्तव्य का वर्णन है जो भक्तियोग के द्वारा भगवान् की सेवा करते हैं। पिछले श्लोकों में चार प्रकार के भक्तों का वर्णन हुआ है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी तथा ज्ञानी। मुक्ति की विभिन्न विधियों का भी वर्णन हुआ है—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा हठयोग। इन योग पद्धतियों के नियमों में कुछ न कुछ भक्ति मिली रहती है, लेकिन इस श्लोक में शुद्ध भक्तियोग का वर्णन है, जिसमें ज्ञान, कर्म या हठ का मिश्रण नहीं होता। जैसा कि *अनन्यचेताः* शब्द से सूचित होता है, भक्तियोग में भक्त कृष्ण के अतिरिक्त और कोई इच्छा नहीं करता। शुद्धभक्त न तो स्वर्गलोक जाना चाहता है, न ब्रह्मज्योति से तादात्म्य या मोक्ष या भवबन्धन से मुक्ति ही चाहता है। शुद्धभक्त किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं करता। चैतन्यचरितामृत में शुद्धभक्त को निष्काम कहा गया है।

उसे ही पूर्णशान्ति का लाभ होता है, उन्हें नहीं जो स्वार्थ में लगे रहते हैं। एक ओर जहाँ ज्ञानयोगी, कर्मयोगी या हठयोगी का अपना-अपना स्वार्थ रहता है, वहीं पूर्णभक्त में भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कोई इच्छा नहीं होती। अतः भगवान् कहते हैं कि जो एकनिष्ठ भाव से उनकी भक्ति में लगा रहता है, उसे वे सरलता से प्राप्त होते हैं।

शुद्धभक्त सदैव कृष्ण के विभिन्न रूपों में से किसी एक की भक्ति में लगा रहता है। कृष्ण के अनेक स्वांश तथा अवतार हैं, यथा राम तथा नृसिंह जिनमें से भक्त किसी एक रूप को चुनकर उसकी प्रेमाभक्ति में मन को स्थिर कर सकता है। ऐसे भक्त को उन अनेक समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता, जो अन्य योग के अभ्यासकर्ताओं को झेलनी पड़ती हैं। भक्तियोग अत्यन्त सरल, शुद्ध तथा सुगम है। इसका शुभारम्भ हरे कृष्ण जप से किया जा सकता है। भगवान् सबों पर कृपालु हैं, किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है जो अनन्य भाव से उनकी सेवा करते हैं वे उनके ऊपर विशेष कृपालु रहते हैं। भगवान् ऐसे भक्तों की सहायता अनेक प्रकार से करते हैं। जैसा कि वेदों में (*कठोपनिषद् १.२-२३*) कहा गया है—*यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्*—जिसने पूरी तरह से भगवान् की शरण ले ली है और जो उनकी भक्ति में लगा हुआ है वही भगवान् को यथारूप में समझ सकता है। तथा *गीता* में भी (१०.१०) कहा गया है—*ददामि बुद्धियोगं तम्*—ऐसे भक्त को भगवान् पर्याप्त बुद्धि प्रदान करते हैं, जिससे वह उन्हें भगवद्धाम में प्राप्त कर सके।

शुद्धभक्त का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह देश अथवा काल का विचार किये बिना अनन्य भाव से कृष्ण का ही चिन्तन करता रहता है। उसको किसी तरह का व्यवधान नहीं होना चाहिए। उसे कहीं भी और किसी भी समय अपना सेवा कार्य करते रहने में समर्थ होना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि भक्तों को वृन्दावन जैसे पवित्र स्थानों में, या किसी पवित्र नगर में, जहाँ भगवान् रह चुके हैं, रहना चाहिए, किन्तु शुद्धभक्त कहीं भी रहकर अपनी भक्ति से वृन्दावन जैसा वातावरण उत्पन्न कर सकता है। श्री अद्वैत ने चैतन्य महाप्रभु से कहा था, “आप जहाँ भी हैं, हे प्रभु! वहीं वृन्दावन है।”

जैसा कि *सततम्* तथा *नित्यशः* शब्दों से सूचित होता है, शुद्धभक्त निरन्तर कृष्ण का ही स्मरण करता है और उन्हीं का ध्यान करता है। ये शुद्धभक्त के गुण हैं, जिनके लिए भगवान् सहज सुलभ हैं। *गीता* समस्त योग पद्धतियों में से भक्तियोग की ही संस्तुति करती है। सामान्यतया भक्तियोगी पाँच प्रकार से भक्ति में लगे रहते हैं—(१) शान्त भक्त, जो उदासीन रहकर भक्ति में युक्त होते हैं, (२) दास्य भक्त, जो दास के रूप में भक्ति में युक्त होते हैं, (३) सख्य भक्त, जो सखा रूप में भक्ति में युक्त होते हैं, (४) वात्सल्य भक्त, जो माता-पिता की भाँति भक्ति में युक्त होते हैं तथा (५) माधुर्य भक्त, जो परमेश्वर के साथ दाम्पत्य प्रेमी की भाँति भक्ति में युक्त होते हैं। शुद्धभक्त इनमें से किसी में भी परमेश्वर की प्रेमाभक्ति में युक्त होता है और उन्हें कभी नहीं भूल पाता, जिससे भगवान् उसे सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार शुद्धभक्त क्षणभर के लिए भी भगवान् को नहीं भूलता, उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्धभक्त को क्षणभर के लिए भी नहीं भूलते। *हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे / हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे*—इस महामन्त्र के कीर्तन की कृष्णभावनाभावित विधि का यही सबसे बड़ा आशीर्वाद है।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझको; उपेत्य—प्राप्त करके; पुनः—फिर; जन्म—जन्म; दुःख-आलयम्—दुखों के स्थान को; अशाश्वतम्—क्षणिक; न—कभी नहीं; नाप्नुवन्ति—प्राप्त करते हैं; महा-आत्मानः—महान पुरुष; संसिद्धिम्—सिद्धि को; परमाम्—परम; गताः—प्राप्त हुए।

मुझे प्राप्त करके महापुरुष, जो भक्तियोगी हैं, कभी भी दुखों से पूर्ण इस अनित्य जगत् में नहीं लौटते, क्योंकि उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हो चुकी होती है।

तात्पर्य

चूँकि यह नश्वर जगत् जन्म, जरा तथा मृत्यु के क्लेशों से पूर्ण है, अतः जो परम सिद्धि प्राप्त करता है और परमलोक कृष्णलोक या गोलोक

वृन्दावन को प्राप्त होता है, वह वहाँ से कभी वापस नहीं आना चाहता। इस परमलोक को वेदों में *अव्यक्त*, *अक्षर* तथा *परमा गति* कहा गया है। दूसरे शब्दों में, यह लोक हमारी भौतिक दृष्टि से परे है और अवर्णनीय है, किन्तु यह चरमलक्ष्य है, जो महात्माओं का गन्तव्य है। महात्मा अनुभवसिद्ध भक्तों से दिव्य सन्देश प्राप्त करते हैं और इस प्रकार वे धीरे-धीरे कृष्णभावनामृत में भक्ति विकसित करते हैं और दिव्यसेवा में इतने लीन हो जाते हैं कि वे न तो किसी भौतिक लोक में जाना चाहते हैं, यहाँ तक कि न ही वे किसी आध्यात्मिक लोक में जाना चाहते हैं। वे केवल कृष्ण तथा कृष्ण का सामीप्य चाहते हैं, अन्य कुछ नहीं। यही जीवन की सबसे बड़ी सिद्धि है। इस श्लोक में भगवान् कृष्ण के सगुणवादी भक्तों का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है। ये भक्त कृष्णभावनामृत में जीवन की परमसिद्धि प्राप्त करते हैं। दूसरे शब्दों में, वे सर्वोच्च आत्माएँ हैं।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

आ-ब्रह्म-भुवनात्—ब्रह्मलोक तक; लोकाः—सारे लोक; पुनः—फिर; आवर्तिनः—लौटने वाले; अर्जुन—हे अर्जुन; माम्—मुझको; उपेत्य—पाकर; तु—लेकिन; कौन्तेय—हे कुन्तीपुत्र; पुनः जन्म—पुनर्जन्म; न—कभी नहीं; विद्यते—होता है।

इस जगत् में सर्वोच्च लोक से लेकर निम्नतम सारे लोक दुखों के घर हैं, जहाँ जन्म तथा मरण का चक्कर लगा रहता है। किन्तु हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त कर लेता है, वह फिर कभी जन्म नहीं लेता।

तात्पर्य

समस्त योगियों को चाहे वे कर्मयोगी हों, ज्ञानयोगी या हठयोगी—अन्ततः भक्तियोग या कृष्णभावनामृत में भक्ति की सिद्धि प्राप्त करनी होती है, तभी वे कृष्ण के दिव्य धाम को जा सकते हैं, जहाँ से वे फिर कभी वापस नहीं आते। किन्तु जो सर्वोच्च भौतिक लोकों अर्थात् देवलोकों को प्राप्त होता है, उसका पुनर्जन्म होता रहता है। जिस प्रकार इस पृथ्वी के

लोग उच्चलोकों को जाते हैं, उसी तरह ब्रह्मलोक, चन्द्रलोक तथा इन्द्रलोक जैसे उच्चतर लोकों से लोग पृथ्वी पर गिरते रहते हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में जिस पंचाग्नि विद्या का विधान है, उससे मनुष्य ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है, किन्तु यदि ब्रह्मलोक में वह कृष्णभावनामृत का अनुशीलन नहीं करता, तो उसे पृथ्वी पर फिर से लौटना पड़ता है। जो उच्चतर लोकों में कृष्णभावनामृत में प्रगति करते हैं, वे क्रमशः और ऊपर जाते रहते हैं और प्रलय के समय वे नित्य परमधाम को भेज दिये जाते हैं। श्रीधर स्वामी ने अपने भगवद्गीता भाष्य में यह श्लोक उद्धृत किया है—

ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

“जब इस भौतिक ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, तो ब्रह्मा तथा कृष्णभावनामृत में निरन्तर प्रवृत्त उनके भक्त अपनी इच्छानुसार आध्यात्मिक ब्रह्माण्ड को तथा विशिष्ट वैकुण्ठ लोकों को भेज दिये जाते हैं।”

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्षद्ब्रह्मणो विदुः ।

रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

सहस्र—एक हजार; युग—युग; पर्यन्तम्—सहित; अहः—दिन; यत्—जो; ब्रह्मणः—ब्रह्मा का; विदुः—वे जानते हैं; रात्रिम्—रात्रि; युग—युग; सहस्र-अन्ताम्—इसी प्रकार एक हजार बाद समाप्त होने वाली; ते—वे; अहः-रात्र—दिन-रात; विदः—जानते हैं; जनाः—लोग।

मानवीय गणना के अनुसार एक हजार युग मिलकर ब्रह्मा का एक दिन बनता है और इतनी ही बड़ी ब्रह्मा की रात्रि भी होती है।

तात्पर्य

भौतिक ब्रह्माण्ड की अवधि सीमित है। यह कल्पों के चक्र रूप में प्रकट होती है। यह कल्प ब्रह्मा का एक दिन है जिसमें चतुर्युग—सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि—के एक हजार चक्र होते हैं। सतयुग में सदाचार, ज्ञान तथा धर्म का बोलबाला रहता है और अज्ञान तथा पाप का एक तरह से नितान्त अभाव होता है। यह युग १७,२८,००० वर्षों तक चलता है।

त्रेता युग में पापों का प्रारम्भ होता है और यह युग १२,९६,००० वर्षों तक चलता है। द्वापर युग में सदाचार तथा धर्म का हास होता है और पाप बढ़ते हैं। यह युग ८,६४,००० वर्षों तक चलता है। सबसे अन्त में कलियुग (जिसे हम विगत ५ हजार वर्षों से भोग रहे हैं) आता है जिसमें कलह, अज्ञान, अधर्म तथा पाप का प्राधान्य रहता है और सदाचार का प्रायः लोप हो जाता है। यह युग ४,३२,००० वर्षों तक चलता है। इस युग में पाप यहाँ तक बढ़ जाते हैं कि इस युग के अन्त में भगवान् स्वयं कल्कि अवतार धारण करते हैं, असुरों का संहार करते हैं, भक्तों की रक्षा करते हैं और दूसरे सतयुग का शुभारम्भ होता है। इस तरह यह क्रिया निरन्तर चलती रहती है। ये चारों युग एक सहस्र चक्र कर लेने पर ब्रह्मा के एक दिन के तुल्य होते हैं। इतने ही वर्षों की उनकी एक रात्रि होती है। ब्रह्मा ऐसे एक सौ वर्ष जीवित रहते हैं और तब उनकी मृत्यु होती है। ब्रह्मा के ये १०० वर्ष गणना के अनुसार पृथ्वी के ३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष के तुल्य हैं। इन गणनाओं से ब्रह्मा की आयु अत्यन्त विचित्र तथा न समाप्त होने वाली लगती है, किन्तु नित्यता की दृष्टि से यह बिजली की चमक जैसी अल्प है। कारणार्णव में असंख्य ब्रह्मा अटलांटिक सागर में पानी के बुलबुलों के समान प्रकट होते और लोप होते रहते हैं। ब्रह्मा तथा उनकी सृष्टि भौतिक ब्रह्माण्ड के अंग हैं, फलस्वरूप निरन्तर परिवर्तित होते रहते हैं।

इस भौतिक ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा भी जन्म, जरा, रोग तथा मरण की क्रिया से अछूते नहीं हैं। किन्तु चूँकि ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड की व्यवस्था करते हैं, इसीलिए वे भगवान् की प्रत्यक्ष सेवा में लगे रहते हैं। फलस्वरूप उन्हें तुरन्त मुक्ति प्राप्त हो जाती है। यहाँ तक कि सिद्ध संन्यासियों को भी ब्रह्मलोक भेजा जाता है, जो इस ब्रह्माण्ड का सर्वोच्च लोक है। किन्तु कालक्रम से ब्रह्मा तथा ब्रह्मलोक के सारे वासी प्रकृति के नियमानुसार मरणशील होते हैं।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।

रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्तात्—अव्यक्त से; व्यक्तयः—जीव; सर्वाः—सारे; प्रभवन्ति—प्रकट होते हैं; अहः—आगमे—दिन होने पर; रात्रि-आगमे—रात्रि आने पर; प्रलीयन्ते—विनष्ट हो जाते हैं; तत्र—उसमें; एव—निश्चय ही; अव्यक्त—अप्रकट; संज्ञके—नामक, कहे जाने वाले।

ब्रह्मा के दिन के शुभारम्भ में सारे जीव अव्यक्त अवस्था से व्यक्त होते हैं और फिर जब रात्रि आती है तो वे पुनः अव्यक्त में विलीन हो जाते हैं।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।

रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

भूत-ग्रामः—समस्त जीवों का समूह; सः—वही; एव—निश्चय ही; अयम्—यह; भूत्वा भूत्वा—बारम्बार जन्म लेकर; प्रलीयते—विनष्ट हो जाता है; रात्रि—रात्रि के; आगमे—आने पर; अवशः—स्वतः; पार्थ—हे पृथापुत्र; प्रभवति—प्रकट होता है; अहः—दिन; आगमे—आने पर।

जब-जब ब्रह्मा का दिन आता है तो सारे जीव प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे असहायवत् विलीन हो जाते हैं।

तात्पर्य

अल्पज्ञानी पुरुष, जो इस भौतिक जगत् में बने रहना चाहते हैं, उच्चतर लोकों को प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उन्हें पुनः इस धरालोक पर आना होता है। वे ब्रह्मा का दिन होने पर इस जगत् के उच्चतर तथा निम्नतर लोकों में अपने कार्यों का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु ब्रह्मा की रात्रि होते ही वे विनष्ट हो जाते हैं। दिन में उन्हें भौतिक कार्यों के लिए नाना शरीर प्राप्त होते रहते हैं, किन्तु रात्रि के होते ही उनके शरीर विष्णु के शरीर में विलीन हो जाते हैं। वे पुनः ब्रह्मा का दिन आने पर प्रकट होते हैं। भूत्वा-भूत्वा प्रलीयते—दिन के समय वे प्रकट होते हैं और रात्रि के समय पुनः विनष्ट हो जाते हैं। अन्ततोगत्वा जब ब्रह्मा का जीवन समाप्त होता है, तो उन सबका संहार हो जाता है और वे करोड़ों वर्षों तक अप्रकट रहते हैं। अन्य

कल्प में ब्रह्मा का पुनर्जन्म होने पर वे पुनः प्रकट होते हैं। इस प्रकार वे भौतिक जगत् के जादू से मोहित होते रहते हैं। किन्तु जो बुद्धिमान व्यक्ति कृष्णभावनामृत स्वीकार करते हैं, वे इस मनुष्य जीवन का उपयोग भगवान् की भक्ति करने में तथा हरे कृष्ण मन्त्र के कीर्तन में बिताते हैं। इस प्रकार वे इसी जीवन में कृष्णलोक को प्राप्त होते हैं और वहाँ पर पुनर्जन्म के चक्कर से मुक्त होकर सतत आनन्द का अनुभव करते हैं।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।

यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

शब्दार्थ

परः—परम; तस्मात्—उस; तु—लेकिन; भावः—प्रकृति; अन्यः—दूसरी; अव्यक्तः—अव्यक्त; अव्यक्तात्—अव्यक्त से; सनातनः—शाश्वत; यः सः—वह जो; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों के; नश्यत्सु—नाश होने पर; न—कभी नहीं; विनश्यति—विनष्ट होती है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य अव्यक्त प्रकृति है, जो शाश्वत है और इस व्यक्त तथा अव्यक्त पदार्थ से परे है। यह परा (श्रेष्ठ) और कभी नाश न होने वाली है। जब इस संसार का सब कुछ लय हो जाता है, तब भी उसका नाश नहीं होता।

तात्पर्य

कृष्ण की पराशक्ति दिव्य और शाश्वत है। यह उस भौतिक प्रकृति के समस्त परिवर्तनों से परे है, जो ब्रह्मा के दिन के समय व्यक्त और रात्रि के समय विनष्ट होती रहती है। कृष्ण की पराशक्ति भौतिक प्रकृति के गुण से सर्वथा विपरीत है। परा तथा अपरा प्रकृति की व्याख्या सातवें अध्याय में हुई है।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।

यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अव्यक्तः—अप्रकट; अक्षरः—अविनाशी; इति—इस प्रकार; उक्तः—कहा गया; तम्—उसको; आहुः—कहा जाता है; परमाम्—परम; गतिम्—गन्तव्य; यम्—

जिसको; प्राप्य—प्राप्त करके; न—कभी नहीं; निवर्तन्ते—वापस आते हैं; तत्—वह;
धाम—निवास; परमम्—परम; मम—मेरा।

जिसे वेदान्ती अप्रकट तथा अविनाशी बताते हैं, जो परम गन्तव्य है, जिसे प्राप्त कर लेने पर कोई वापस नहीं आता, वही मेरा परमधाम है।

तात्पर्य

ब्रह्मसंहिता में भगवान् कृष्ण के परमधाम को *चिन्तामणि धाम* कहा गया है, जो ऐसा स्थान है जहाँ सारी इच्छाएँ पूरी होती हैं। भगवान् कृष्ण का परमधाम गोलोक वृन्दावन कहलाता है और वह पारसमणि से निर्मित प्रासादों से युक्त है। वहाँ पर वृक्ष भी हैं, जिन्हें कल्पतरु कहा जाता है, जो इच्छा होने पर किसी भी तरह का खाद्य पदार्थ प्रदान करने वाले हैं। वहाँ गौएँ भी हैं, जिन्हें सुरभि गौएँ कहा जाता है और वे अनन्त दुग्ध देने वाली हैं। इस धाम में भगवान् की सेवा के लिए लाखों लक्ष्मियाँ हैं। वे आदि भगवान् गोविन्द तथा समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं। भगवान् वंशी बजाते रहते हैं (*वेणुं ब्रह्मन्तम्*)। उनका दिव्य स्वरूप समस्त लोकों में सर्वाधिक आकर्षक है, उनके नेत्र कमलदलों के समान हैं और उनका शरीर मेघों के वर्ण का है। वे इतने रूपवान हैं कि उनका सौन्दर्य हजारों कामदेवों को मात करता है। वे पीत वस्त्र धारण करते हैं, उनके गले में माला रहती है और केशों में मोरपंख लगे रहते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् कृष्ण अपने निजी धाम, गोलोक वृन्दावन का संकेत मात्र करते हैं, जो आध्यात्मिक जगत् में सर्वश्रेष्ठ लोक है। इसका विशद वृत्तान्त *ब्रह्मसंहिता* में मिलता है। वैदिक ग्रंथ (*कठोपनिषद् १.३.११*) बताते हैं कि भगवान् का धाम सर्वश्रेष्ठ है और यही परमधाम है (*पुरुषात्र परं किञ्चित्सा काष्ठा परमा गतिः*)। एक बार वहाँ पहुँच कर फिर से भौतिक संसार में वापस नहीं आना होता। कृष्ण का परमधाम तथा स्वयं कृष्ण अभिन्न हैं, क्योंकि वे दोनों एक से गुण वाले हैं। आध्यात्मिक आकाश में स्थित इस गोलोक वृन्दावन की प्रतिकृति (वृन्दावन) इस पृथ्वी पर दिल्ली से ९० मील दक्षिण-पूर्व स्थित है। जब कृष्ण ने इस पृथ्वी पर अवतार ग्रहण किया था,

तो उन्होंने इसी भूमि पर, जिसे वृन्दावन कहते हैं और जो भारत में मथुरा जिले के चौरासी वर्गमील में फैला हुआ है, क्रीड़ा की थी।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।

यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

पुरुषः—परमपुरुष; सः—वह; परः—परम, जिनसे बढ़कर कोई नहीं है; पार्थ—हे पृथापुत्र; भक्त्या—भक्ति के द्वारा; लभ्यः—प्राप्त किया जा सकता है; तु—लेकिन; अनन्यया—अनन्य, अविचल; यस्य—जिसके; अन्तः-स्थानि—भीतर; भूतानि—यह सारा जगत; येन—जिनके द्वारा; सर्वम्—समस्त; इदम्—जो कुछ हम देख सकते हैं; ततम्—व्याप्त है।

भगवान्, जो सबसे महान हैं, अनन्य भक्ति द्वारा ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यद्यपि वे अपने धाम में विराजमान रहते हैं, तो भी वे सर्वव्यापी हैं और उनमें सब कुछ स्थित है।

तात्पर्य

यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि जिस परमधाम से फिर लौटना नहीं होता, वह परमपुरुष कृष्ण का धाम है। *ब्रह्मसंहिता* में इस परमधाम को आनन्दचिन्मय रस कहा गया है जो ऐसा स्थान है जहाँ सभी वस्तुएँ परम आनन्द से पूर्ण हैं। जितनी भी विविधता प्रकट होती है वह सब इसी परमानन्द का गुण है—वहाँ कुछ भी भौतिक नहीं है। यह विविधता भगवान् के विस्तार के साथ ही विस्तृत होती जाती है, क्योंकि वहाँ की सारी अभिव्यक्ति पराशक्ति के कारण है, जैसा कि सातवें अध्याय में बताया गया है। जहाँ तक इस भौतिक जगत् का प्रश्न है, यद्यपि भगवान् अपने धाम में ही सदैव रहते हैं, तो भी वे अपनी भौतिक शक्ति (माया) द्वारा सर्वव्याप्त हैं। इस प्रकार वे अपनी परा तथा अपरा शक्तियों द्वारा सर्वत्र—भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों ब्रह्माण्डों में—उपस्थित रहते हैं। *यस्यान्तःस्थानि* का अर्थ है कि प्रत्येक वस्तु उनमें या उनकी परा या अपरा शक्ति में निहित है। इन्हीं दोनों शक्तियों के द्वारा भगवान् सर्वव्यापी हैं।

कृष्ण के परमधाम में या असंख्य वैकुण्ठ लोकों में भक्ति के द्वारा ही प्रवेश सम्भव है, जैसा कि *भक्त्या* शब्द द्वारा सूचित होता है। किसी अन्य

विधि से परमधाम की प्राप्ति सम्भव नहीं है। वेदों में (गोपाल-तापनी उपनिषद् ३.२) भी परमधाम तथा भगवान् का वर्णन मिलता है। एको वशी सर्वगः कृष्णः। उस धाम में केवल एक भगवान् रहता है, जिसका नाम कृष्ण है। वह अत्यन्त दयालु विग्रह है और एक रूप में स्थित होकर भी वह अपने को लाखों स्वांशों में विस्तृत करता रहता है। वेदों में भगवान् की उपमा उस शान्त वृक्ष से दी गई है, जिसमें नाना प्रकार के फूल तथा फल लगे हैं और जिसकी पत्तियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। वैकुण्ठ लोक की अध्यक्षता करने वाले भगवान् के स्वांश चतुर्भुजी हैं और विभिन्न नामों से विख्यात हैं—पुरुषोत्तम, त्रिविक्रम, केशव, माधव, अनिरुद्ध, हृषीकेश, संकर्षण, प्रद्युम्न, श्रीधर, वासुदेव, दामोदर, जनार्दन, नारायण, वामन, पद्मनाभ आदि।

ब्रह्मसंहिता में (५.३७) भी पुष्टि हुई है कि यद्यपि भगवान् निरन्तर परमधाम गोलोक वृन्दावन में रहते हैं, किन्तु वे सर्वव्यापी हैं ताकि सब कुछ सुचारु रूप से चलता रहे (गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूतः)। वेदों में (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६.८) कहा गया है—परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते। स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च—उनकी शक्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि वे परमेश्वर के दूरस्थ होते हुए भी दृश्यजगत में बिना किसी त्रुटि के सब कुछ सुचारु रूप से संचालित करती रहती हैं।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जिस; काले—समय में; तु—तथा; अनावृत्तिम्—वापस न आना; आवृत्तिम्—वापसी; च—भी; एव—निश्चय ही; योगिनः—विभिन्न प्रकार के योगी; प्रयाताः—प्रयाण करने वाले; यान्ति—प्राप्त करते हैं; तम्—उस; कालम्—काल को; वक्ष्यामि—कहूँगा; भरत-ऋषभ—हे भरतों में श्रेष्ठ!.

हे भरतश्रेष्ठ! अब मैं तुम्हें उन विभिन्न कालों को बताऊँगा, जिनमें इस संसार से प्रयाण करने के बाद योगी पुनः आता है अथवा नहीं आता।

तात्पर्य

परमेश्वर के अनन्य, पूर्ण शरणागत भक्तों को इसकी चिन्ता नहीं रहती कि वे कब और किस तरह शरीर को त्यागेंगे। वे सब कुछ कृष्ण पर छोड़ देते हैं और इस तरह सरलतापूर्वक, प्रसन्नता सहित भगवद्धाम जाते हैं। किन्तु जो अनन्य भक्त नहीं हैं और कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा हठयोग जैसी आत्म-साक्षात्कार की विधियों पर आश्रित रहते हैं, उन्हें उपयुक्त समय में शरीर त्यागना होता है, जिससे वे आश्चस्त हो सकें कि इस जन्म-मृत्यु वाले संसार में उनको लौटना होगा या नहीं।

यदि योगी सिद्ध होता है तो वह इस जगत् से शरीर छोड़ने का समय तथा स्थान चुन सकता है। किन्तु यदि वह इतना पटु नहीं होता तो उसकी सफलता उसके अचानक शरीर त्याग के संयोग पर निर्भर करती है। भगवान् ने अगले श्लोक में ऐसे उचित अवसरों का वर्णन किया है कि कब मरने से कोई वापस नहीं आता। आचार्य बलदेव विद्याभूषण के अनुसार यहाँ पर संस्कृत के काल शब्द का प्रयोग काल के अधिष्ठाता देव के लिए हुआ है।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अग्निः—अग्नि; ज्योतिः—प्रकाश; अहः—दिन; शुक्लः—शुक्लपक्ष; षट्-मासाः—छह महीने; उत्तर-अयनम्—जब सूर्य उत्तर दिशा की ओर रहता है; तत्र—वहाँ; प्रयाताः—मरने वाले; गच्छन्ति—जाते हैं; ब्रह्म—ब्रह्म को; ब्रह्म-विदः—ब्रह्मज्ञानी; जनाः—लोग।

जो परब्रह्म के ज्ञाता हैं, वे अग्निदेव के प्रभाव में, प्रकाश में, दिन के शुभक्षण में, शुक्लपक्ष में या जब सूर्य उत्तरायण में रहता है, उन छह मासों में इस संसार से शरीर त्याग करने पर उस परब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य

जब अग्नि, प्रकाश, दिन तथा पक्ष का उल्लेख रहता है तो यह समझना चाहिए कि इस सबों के अधिष्ठाता देव होते हैं जो आत्मा की यात्रा

की व्यवस्था करते हैं। मृत्यु के समय मन मनुष्य को नवीन जीवन मार्ग पर ले जाता है। यदि कोई अकस्मात् या योजनापूर्वक उपर्युक्त समय पर शरीर त्याग करता है तो उसके लिए निर्विशेष ब्रह्मज्योति प्राप्त कर पाना सम्भव होता है। योग में सिद्ध योगी अपने शरीर को त्यागने के समय तथा स्थान की व्यवस्था कर सकते हैं। अन्यो का इस पर कोई वश नहीं होता। यदि संयोगवश वे शुभमुहूर्त में शरीर त्यागते हैं, तब तो उनको जन्म-मृत्यु के चक्र में लौटना नहीं पड़ता, अन्यथा उनके पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। किन्तु कृष्णभावनामृत में शुद्धभक्त के लिए लौटने का कोई भय नहीं रहता, चाहे वह शुभ मुहूर्त में शरीर त्याग करे या अशुभ क्षण में, चाहे अकस्मात् शरीर त्याग करे या स्वेच्छापूर्वक।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षणमासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

धूमः—धुआँ; रात्रिः—रात; तथा—और; कृष्णः—कृष्णपक्ष; षट्-मासाः—छह मास की अवधि; दक्षिण-अयनम्—जब सूर्य दक्षिण दिशा में रहता है; तत्र—वहाँ; चान्द्र-मसम्—चन्द्रलोक को; ज्योतिः—प्रकाश; योगी—योगी; प्राप्य—प्राप्त करके; निवर्तते—वापस आता है।

जो योगी धुएँ, रात्रि, कृष्णपक्ष में या सूर्य के दक्षिणायन रहने के छह महीनों में दिवंगत होता है, वह चन्द्रलोक को जाता है, किन्तु वहाँ से पुनः (पृथ्वी पर) चला आता है।

तात्पर्य

भागवत के तृतीय स्कंध में कपिल मुनि उल्लेख करते हैं कि जो लोग कर्मकाण्ड तथा यज्ञकाण्ड में निपुण हैं, वे मृत्यु होने पर चन्द्रलोक को प्राप्त करते हैं। ये महान आत्माएँ चन्द्रमा पर लगभग १० हजार वर्षों तक (देवों की गणना से) रहती हैं और सोमरस का पान करते हुए जीवन का आनन्द भोगती हैं। अन्ततोगत्वा वे पृथ्वी पर लौट आती हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि चन्द्रमा में उच्चश्रेणी के प्राणी रहते हैं, भले ही हम अपनी स्थूल इन्द्रियों से उन्हें देख न सकें।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यथावर्तते पुनः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शुक्ल—प्रकाश; कृष्णे—तथा अंधकार; गती—जाने के मार्ग; हि—निश्चय ही; एते—ये दोनों; जगतः—भौतिक जगत् का; शाश्वते—वेदों के; मते—मत से; एकया—एक के द्वारा; याति—जाता है; अनावृत्तिम्—न लौटने के लिए; अन्यथा—अन्य के द्वारा; आवर्तते—आ जाता है; पुनः—फिर से।

वैदिक मतानुसार इस संसार से प्रयाण करने के दो मार्ग हैं—एक प्रकाश का तथा दूसरा अंधकार का। जब मनुष्य प्रकाश के मार्ग से जाता है तो वह वापस नहीं आता, किन्तु अंधकार के मार्ग से जाने वाला पुनः लौटकर आता है।

तात्पर्य

आचार्य बलदेव विद्याभूषण ने छान्दोग्य उपनिषद् से (५.१०.३-५) ऐसा ही विवरण उद्धृत किया है। जो अनादि काल से सकाम कर्मी तथा दार्शनिक चिन्तक रहे हैं वे निरन्तर आवागमन करते रहे हैं। वस्तुतः उन्हें परममोक्ष प्राप्त नहीं होता, क्योंकि वे कृष्ण की शरण में नहीं जाते।

नैते सृती पार्थ जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एते—इन दोनों; सृती—विभिन्न मार्गों को; पार्थ—हे पृथापुत्र; जानन्—जानते हुए भी; योगी—भगवद्भक्त; मुह्यति—मोहग्रस्त होता है; कश्चन—कोई; तस्मात्—अतः; सर्वेषु कालेषु—सदैव; योग-युक्तः—कृष्णभावनामृत में तत्पर; भव—होवो; अर्जुन—हे अर्जुन।

हे अर्जुन! यद्यपि भक्तगण इन दोनों मार्गों को जानते हैं, किन्तु वे मोहग्रस्त नहीं होते। अतः तुम भक्ति में सदैव स्थिर रहो।

तात्पर्य

कृष्ण अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि उसे इस जगत् से आत्मा के प्रयाण करने के विभिन्न मार्गों को सुनकर विचलित नहीं होना चाहिए।

भगवद्भक्त को इसकी चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि वह स्वेच्छा से मरेगा या दैववशात्। भक्त को कृष्णभावनामृत में दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर हरे कृष्ण का जप करना चाहिए। उसे यह जान लेना चाहिए कि इन दोनों मार्गों में से किसी की भी चिन्ता करना कष्टदायक है। कृष्णभावनामृत में तल्लीन होने की सर्वोत्तम विधि यही है कि भगवान् की सेवा में सदैव रत रहा जाय। इससे भगवद्धाम का मार्ग स्वतः सुगम, सुनिश्चित तथा सीधा होगा। इस श्लोक का योगयुक्त शब्द विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। जो योग में स्थिर है, वह अपनी सभी गतिविधियों में निरन्तर कृष्णभावनामृत में रत रहता है। श्री रूप गोस्वामी का उपदेश है—*अनासक्तस्य विषयान् यथार्हमुपयुञ्जतः*— मनुष्य को सांसारिक कार्यों से अनासक्त रहकर कृष्णभावनामृत में सब कुछ करना चाहिए। इस विधि से, जिसे *युक्तवैराग्य* कहते हैं, मनुष्य सिद्धि प्राप्त करता है। अतएव भक्त कभी इन वर्णनों से विचलित नहीं होता, क्योंकि वह जानता रहता है कि भक्ति के कारण भगवद्धाम तक का उसका प्रयाण सुनिश्चित है।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव

दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।

अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा

योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

वेदेषु—वेदाध्ययन में; यज्ञेषु—यज्ञ सम्पन्न करने में; तपःसु—विभिन्न प्रकार की तपस्याएँ करने में; च—भी; एव—निश्चय ही; दानेषु—दान देने में; यत्—जो; पुण्य-फलम्—पुण्यकर्म का फल; प्रदिष्टम्—सूचित; अत्येति—लाँघ जाता है; तत् सर्वम्—वे सब; इदम्—यह; विदित्वा—जानकर; योगी—योगी; परम्—परम; स्थानम्—धाम को; उपैति—प्राप्त करता है; च—भी; आद्यम्—मूल, आदि।

जो व्यक्ति भक्तिमार्ग स्वीकार करता है, वह वेदाध्ययन, तपस्या, दान, दार्शनिक तथा सकाम कर्म करने से प्राप्त होने वाले फलों से वंचित नहीं होता। वह मात्र भक्ति सम्पन्न करके

इन समस्त फलों की प्राप्ति करता है और अन्त में परम नित्यधाम को प्राप्त होता है।

तात्पर्य

यह श्लोक सातवें तथा आठवें अध्यायों का उपसंहार है, जिनमें कृष्णभावनामृत तथा भक्ति का विशेष वर्णन है। मनुष्य को अपने गुरु के निर्देशन में वेदाध्ययन करना होता है, उन्हीं के आश्रम में रहते हुए तपस्या करनी होती है। ब्रह्मचारी को गुरु के घर में एक दास की भाँति रहना पड़ता है और द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर गुरु के पास लाना होता है। उसे गुरु के आदेश पर ही भोजन करना होता है और यदि किसी दिन गुरु शिष्य को भोजन करने के लिए बुलाना भूल जाय तो शिष्य को उपवास करना होता है। ब्रह्मचर्य पालन के ये कुछ वैदिक नियम हैं।

अपने गुरु के आश्रम में जब छात्र पाँच से बीस वर्ष तक वेदों का अध्ययन कर लेता है तो वह परम चरित्रवान बन जाता है। वेदों का अध्ययन मनोधर्मियों के मनोरंजन के लिए नहीं, अपितु चरित्र-निर्माण के लिए है। इस प्रशिक्षण के बाद ब्रह्मचारी को गृहस्थ जीवन में प्रवेश करके विवाह करने की अनुमति दी जाती है। गृहस्थ के रूप में उसे अनेक यज्ञ करने होते हैं, जिससे वह आगे उन्नति कर सके। उसे देश, काल तथा पात्र के अनुसार तथा सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक दान में अन्तर करते हुए दान देना होता है, जैसा कि *भगवद्गीता* में वर्णित है। गृहस्थ जीवन के बाद वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करना पड़ता है, जिसमें उसे जंगल में रहते हुए वृक्ष की छाल पहन कर तथा क्षौर कर्म आदि किये बिना कठिन तपस्या करनी होती है। इस प्रकार मनुष्य ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा अन्त में संन्यास आश्रम का पालन करते हुए जीवन की सिद्धावस्था को प्राप्त होता है। तब इनमें से कुछ स्वर्गलोक को जाते हैं और यदि वे और अधिक उन्नति करते हैं तो अधिक उच्चलोकों को या तो निर्विशेष ब्रह्मज्योति को, या वैकुण्ठलोक या कृष्णलोक को जाते हैं। वैदिक ग्रंथों में इसी मार्ग की रूपरेखा प्राप्त होती है।

किन्तु कृष्णभावनामृत की विशेषता यह है कि मनुष्य एक ही झटके में भक्ति करने के कारण मनुष्य जीवन के विभिन्न आश्रमों के अनुष्ठानों को पार कर जाता है।

इदं विदित्वा शब्द सूचित करते हैं कि मनुष्य को *भगवद्गीता* के इस अध्याय में तथा सातवें अध्याय में दिये हुए कृष्ण के उपदेशों को समझना चाहिए। उसे विद्वत्ता या मनोधर्म से इन दोनों अध्यायों को समझने का प्रयास नहीं करना चाहिए, अपितु भक्तों की संगति से श्रवण करके समझना चाहिए। सातवें से लेकर बारहवें तक के अध्याय *भगवद्गीता* के सार रूप हैं। प्रथम छह अध्याय तथा अन्तिम छह अध्याय इन मध्यवर्ती छहों अध्यायों के लिए आवरण मात्र हैं जिनकी सुरक्षा भगवान् करते हैं। यदि कोई *गीता* के इन छह अध्यायों को भक्त की संगति में भलीभाँति समझ लेता है तो उसका जीवन समस्त तपस्याओं, यज्ञों, दानों, चिन्तनों को पार करके महिमा-मण्डित हो उठेगा, क्योंकि केवल कृष्णभावनामृत के द्वारा उसे इतने कर्मों का फल प्राप्त हो जाता है।

जिसे *भगवद्गीता* में तनिक भी श्रद्धा नहीं है, उसे किसी भक्त से *भगवद्गीता* समझनी चाहिए, क्योंकि चौथे अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि केवल भक्तगण ही *गीता* को समझ सकते हैं, अन्य कोई भी *भगवद्गीता* के अभिप्राय को नहीं समझ सकता। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भक्त से *भगवद्गीता* पढ़े; मनोधर्मियों से नहीं। यह श्रद्धा का सूचक है। जब भक्त की खोज की जाती है और अन्ततः भक्त की संगति प्राप्त हो जाती है, उसी क्षण से *भगवद्गीता* का वास्तविक अध्ययन तथा उसका ज्ञान प्रारम्भ हो जाता है। भक्त की संगति से भक्ति आती है और भक्ति के कारण कृष्ण या ईश्वर तथा कृष्ण के कार्यकलापों, उनके रूप, नाम, लीलाओं आदि से संबंधित सारे भ्रम दूर हो जाते हैं। इस प्रकार भ्रमों के दूर हो जाने पर वह अपने अध्ययन में स्थिर हो जाता है। तब उसे *भगवद्गीता* के अध्ययन में रस आने लगता है और कृष्णभावनाभावित होने की अनुभूति होने लगती है। आगे बढ़ने पर वह कृष्ण के प्रेम में पूर्णतया अनुरक्त हो जाता है। यह जीवन की सर्वोच्च सिद्ध अवस्था है, जिससे भक्त

कृष्ण के धाम गोलोक वृन्दावन को प्राप्त होता है, जहाँ वह नित्य सुखी रहता है।

इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय “भगवत्प्राप्ति” का भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुआ।